

भाषा अध्ययनशाला (संस्कृत)
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर (म.प्र.)



सत्र – २०१९-२१

कक्षा – एम.ए. (द्वितीय सेमेस्टर)

शीर्षक – ध्वन्यालोक (प्रथम उद्योतः) (भाग –
१)

प्रस्तुतीकरण – डॉ. भीमा जाटवः

घर पर रहें , सुरक्षित रहें।

अथ श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

प्रथम उद्योतः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरमिद्वान्तशिरोमणिविरचित
'आलोकदीपिका' हिन्दीव्याख्या

उपहृतो वाचस्वतिरुपास्मान् वाचस्वतिर्हन्वताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिवि ॥—अथर्ववेद १.१.४
ध्वन्यमानं गुणीभूतस्वरूपाद् विश्वरूपकात् ।
रसरूपं परं ब्रह्म शाश्वतं समुपास्महे ॥
ध्यायं ध्यायं निगमविदितं विश्वरूपं परेशं
स्मारं स्मारं चरणयुगलं श्रीगुरोस्तत्त्वदीपम् ।
श्रावं श्रावं ध्वनिनवनयं वर्धनोपशमेनं
ध्वन्यालोकं विवृतिविशदं भाषया सन्तनोमि ॥

मङ्गलाचरण

संस्कृत श्रुत काव्योः प्रारम्भमें भगवान्का स्मरण मार्गमें आनेवाली वाधाओंपर विजय प्राप्त करनेकी शक्ति प्रदान करता है, इसलिए ग्रन्थारम्भ जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यके प्रारम्भमें भी उसकी निर्भिन्न परिसमाप्तिकी भावनासे भगवान्के स्मरणरूप मङ्गलाचरणकी परिपाटी सदाचारप्राप्त रही है। यद्यपि भगवान्का स्मरण मानसिक ध्यापार है, परन्तु ग्रन्थकार जिस रूपमें भगवान्का स्मरण करता है उसको शिष्योंकी शिक्षाके लिए ग्रन्थके आरम्भमें अङ्कित कर देनेकी प्रथा भी संस्कृतसाहित्यकी एक सदाचार-प्राप्त परिपाटी है। इसलिए संस्कृतके ग्रन्थोंमें प्रायः सर्वत्र मङ्गलाचरण पाया जाता है।

ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्यने अपने प्रारिणित ग्रन्थकी निर्भिन्न समाप्ति और उसके मार्गमें आनेवाले विघ्नोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए आशीर्वाद, नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देशरूप त्रिविध मङ्गलप्रकारोंमेंसे आशीर्वचनरूप मङ्गलाचरण करते हुए नरसिंहांवतारके प्रपन्नार्तिच्छिदक नखोंका स्मरण किया है।

स्वयं अपनी इच्छासे सिंह [नृसिंह] रूप धारण किये हुए [मधुरिपु] विष्णु भगवान्के, अपनी निर्मल कान्तिसे चन्द्रमाकी खिन्न [लज्जित] करनेवाले, शरणागतोंके दुःखनाशनमें संमर्थ, नख तुम सब [व्याख्याता तथा श्रोता] की रक्षा करें !

२

ध्वन्यालोकः (अध्याय १)

ध्वन्यालोकः

व्याख्या

[कारिका १]

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति वृधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

विघ्नोंके नाश और उनपर विजयप्राप्तिके लिए वीररसके स्थायिभाव उल्लाहकी विशेष उपयोगिताकी दृष्टिसे ही ग्रन्थकारने अपने इष्टदेवके वीररसाभिव्यञ्जक स्वरूपका स्मरण किया है।

यहाँ एकदोष माननेपर 'वः' पद ग्रन्थकर्ता, व्याख्याता और श्रोता आदि सबका वाचक भी हो सकता है। परन्तु लोचनकारने एकदोष न मानकर 'वः'का सीधा 'युष्मान्' अर्थ किया है और इस प्रकार स्वयं ग्रन्थकारको इस आशीर्वचनसे अलग कर दिया है। इसका कारण बताने हुए उन्होंने "स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितायोऽपि व्याख्यातुश्रोतृणामधिष्णामधीष्टव्याख्याश्रवणलक्षण-फलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसाम्मुख्यं करोति वृत्तिकारः स्वेच्छेति ।" लिखा है। अर्थात् मङ्गलाचरणकार स्वयं तो निरन्तर ईश्वर नमस्कार करते रहनेके कारण कृतार्थ ही हैं, अतः व्याख्याता और श्रोताओंके लिए ही आशीर्वचन द्वारा रक्षायकी प्रार्थना की है।

कारिकाकार और वृत्तिकारका अभेद

'लोचन'की इस पंक्तिमें 'वृत्तिकारः' पदका तथा अन्यत्र 'कारिकाकारः' पदका उल्लेख देखकर कुछ नवीन विद्वानोंने 'ध्वन्यालोक'के कारिकाभागका रचयिता 'सहृदय'को और वृत्तिभागका रचयिता आनन्दवर्धनाचार्यको माना है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि यहाँपर वृत्तिभाग तथा कारिकाभाग दोनोंके आरम्भमें 'स्वेच्छाकेसरिणः' यह एक ही मङ्गलाचरणका श्लोक मिलता है। यदि इन दोनों भागोंके रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते तो निश्चय ही दोनों भागोंके मङ्गलाचरणके श्लोक अलग-अलग होने चाहिये थे। फिर जो लोग 'सहृदय'को कारिकाभागका निर्माता मानते हैं वे 'ध्वन्यालोक'के वृत्तिभागके सबसे अन्तिम श्लोकमें आये हुए 'सहृदयोदयलाभहेतोः' पदके आधारपर ऐसा मानना चाहते हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस श्लोकमें 'सहृदय' पद किसी व्यक्तिविशेषका वाचक न होकर काव्यमर्मशोका वाचक विशेषणपद है। आनन्दवर्धनाचार्यने मङ्गलाचरणके बाद सबसे पहिली कारिकामें 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्'में 'सहृदय' पदका प्रयोग किया है। ग्रन्थको समाप्त करते हुए वृत्तिभागके सबसे अन्तिम श्लोकमें भी उसी 'सहृदय' पदसे ग्रन्थका उपसंहार किया है। दोनों जगह 'सहृदय' पद काव्यमर्मशोका बोधक है। उपक्रम और उपसंहारका यह सामञ्जस्य कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंके एक ही कर्ताको सूचित करता है। इसलिए जो लोग 'सहृदय'को ध्वनि-कारिकाओंका रचयिता मानते हैं वे न्यायसङ्गत नहीं। यदि 'सहृदय' ही कारिकाकार होते तो वे प्रथम कारिका 'सहृदयमनःप्रीतये' कैसे लिख सकते थे।

ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियाँ

श्रोताओंके मनको प्रकृत विषयमें एकाग्र करनेके लिए ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय और उसके प्रयोजनका प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार, ग्रन्थका आरम्भ इस प्रकार करते हैं—

काव्यके आरम्भभूत जिस तत्त्वको विद्वान् लोग ध्वनि नामसे कहते आये हैं, कुछ लोग उसका अभाव मानते हैं। दूसरे लोग उसे भाक्त [गौण, लक्षणागम्य] कहते हैं

और कुछ लोग उस के रहस्यको चाणीका अविषय [अवर्णनीय, अनिर्वचनीय] यतलाते हैं। अतएव [ध्वनिके विषयमें इन नाना विप्रतिपत्तियोंके होनेके कारण उनका निग-
करण कर, ध्वनिस्थापना द्वारा] सद्द्वयों [काव्यमर्मज्ञ जनों] की मनकी प्रसन्नता [हृद-
याह्लाद]के लिए हम उस [ध्वनि] के स्वरूपका निरूपण करते हैं ॥ २ ॥

'सामान्नातपूर्वः'का समाधान

इस पद्यमें ग्रन्थकारने ध्वनिसिद्धान्तको 'सामान्नातपूर्वः' एक प्राचीन सिद्धान्त माना है। परन्तु जहाँतक लिखित वाङ्मयका सम्बन्ध है, संस्कृत साहित्यमें ध्वनिसिद्धान्तके विषयमें 'ध्वन्यालोक'के प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। तब आनन्दवर्धनाचार्यने इसको 'सामान्नातपूर्वः' कैम कहा है यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि 'ध्वन्यालोक'के पूर्व लिखित रूपमें ध्वनि-
सिद्धान्तका प्रतिपादन कहीं नहीं हुआ था, किन्तु मौलिकरूपसे काव्यके आत्मतत्त्वविषयक विचारके प्रसङ्गमें शब्दादि प्रसिद्ध अवयवोंके अतिरिक्त काव्यके जीवनाभावक तत्त्वको लोग स्वीकार करते थे। काव्यके आत्मभूत तत्त्वके नामकरणके विषयमें वे साहित्यमर्मज्ञ व्याकरणशास्त्रके ऋषी हैं। व्याकरण-
शास्त्रमें श्रोत्रग्राह्य शब्दके लिए 'ध्वनि' पदका प्रयोग होता है। श्रोत्रग्राह्य शब्द अपनेसे परे स्पीडरूप
नित्य शब्दका व्यञ्जक होता है। वह स्पीडरूप शब्द ही प्रधान है। इसी प्रकार काव्यके शब्द अपने
वाच्यार्थसे परे किसी अन्य अर्थको व्यक्त करते हैं। यह व्यञ्ज्य अर्थ ही प्रधान और काव्यका आत्मा
होता है। इसी सादृश्यके आधारपर काव्यके आत्मभूत तत्त्वका 'ध्वनि' यह नामकरण किया गया।
'ध्वन्यालोक'के 'बुधैर्यः सामान्नातपूर्वः' इन शब्दोंको लेकर ही काव्यप्रकाशकारने "बुधैर्यः कण्ठोः
प्रधानभूतस्पीडरूपव्यञ्ज्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः ततस्तस्मानुनागरिभिरन्यैरपि
न्यग्भावितवाच्यव्यञ्ज्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।" [सूत्र २] यह पंक्ति लिखी है। स्वयं आनन्द-
वर्धनाचार्यने भी आगे वही बात लिखी है। इससे प्रतीत होता है 'सामान्नातपूर्वः' यह मौलिक
परम्पराका निर्देश है।

विप्रतिपत्तियोंका विश्लेषण

ग्रन्थरूपमें 'ध्वन्यालोक' ध्वनिका प्रतिपादन करनेवाला प्रथम ग्रन्थ है। अलङ्कारशास्त्रमें इसके
पहिले भरतमुनिका 'नाट्यशास्त्र', भागहका 'काव्यालङ्कार', उद्भटके इस 'काव्यालङ्कार'पर 'भामह-
विवरण' नामक टीका, वामनका 'काव्यालङ्कारवृत्त' और रुद्रटका 'काव्यालङ्कार' यही पाँच मुख्य
ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इनमें भी 'भागहविवरण' अमीतक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है।
परन्तु 'ध्वन्यालोक'की लोचन टीकामें उसका उल्लेख बहुत मिलता है। इन पाँचों आचार्योंने अपने
ग्रन्थोंमें ध्वनि नामसे कहीं ध्वनिका प्रतिपादन नहीं किया और न उसका खण्डन ही किया है।
इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि ये ध्वनिको नहीं मानते थे। ध्वन्यालोककार आनन्द-
वर्धनाचार्यने इन्हींके ग्रन्थोंके आधारपर सम्भावित तीन ध्वनिविरोधी पक्ष बनाये प्रतीत होते हैं। एक
अभाववादी पक्ष, दूसरा भक्तिवादी पक्ष और तीसरा अलक्षणीयतावादी पक्ष। इन्हीं तीनों पक्षोंका
निर्देश इस कारिकामें 'तस्मैभावम्', 'भाकम्' और 'वाचां स्थितमविषये' शब्दोंसे किया है। ये तीनों पक्ष
उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पक्ष हैं। इनमेंसे प्रथम अभाववादी पक्ष विपर्ययमूलक, दूसरा भक्तिपक्ष सन्देहमूलक और
तीसरा अलक्षणीयतावाद अज्ञानमूलक है। अर्थात् प्रथम अभाववादी पक्षने प्राचीन आनायायिके ग्रन्थों-
को जो ध्वनिका अभाववाचक समझा है वह उनका भ्रम या विपर्ययज्ञान है। इसलिए वह सर्वथा
हेय या निवृत्त पक्ष है। दूसरे भक्तिवादी पक्षने भामहके 'काव्यालङ्कार' और उसपर उद्भटके विवरणमें

गुणवृत्ति शब्दका प्रयोग देखकर ध्वनिको भक्तिमात्र कहा है। उनका यह पक्ष सन्देहमूलक होने और
ध्वनिका स्पष्ट निषेध न करनेसे मध्यम पक्ष है। भामहने अपने 'काव्यालङ्कार'में लिखा है कि—

"शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः ।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः ॥"

इस कारिकामें भामहने शब्द, छन्द, अभिधान, अर्थ, इतिहासाश्रित कथा, लोक, युक्ति और कला
इन काव्यहेतुओंका संग्रह किया है। इनमें शब्द और अभिधानका भेद प्रदर्शित करते हुए विवरणकार
उद्भटने लिखा है—

"शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च ।"

इस प्रकरणका अभिप्राय यह है कि शब्द पदसे तो शब्दका ग्रहण करना चाहिये और अर्थ
पदसे अर्थका। शब्दका अर्थबोधनपरक जो व्यापार है उसे 'अभिधान' पदसे ग्रहण करना चाहिये।
यह अभिधान या अभिधाव्यापार मुख्य और गुणवृत्ति या गौण भेदसे दो प्रकारका है।

इस प्रकार भामहने अभिधान पदसे, उद्भटने गुणवृत्ति शब्दसे और वामनने "सादृश्यात्
लक्षणा वक्रोक्तिः"में 'लक्षणा' शब्दसे उस ध्वनिमार्गका तनिक स्पर्श तो किया है परन्तु उसका स्पष्ट
लक्षण नहीं किया है इसलिए यह सन्देहमूलक भक्तिवादी मध्यम पक्ष बना।

जब प्राचीन आचार्य ध्वनिमार्गका स्पर्शमात्र करके बिना लक्षण किये छोड़ गये तो उसका
कोई लक्षण हो ही नहीं सकता, यह अभाववादका तृतीय अलक्षणीयतावाला पक्ष है। यह पक्ष प्रथम
पक्षकी भाँति ध्वनिका न स्पष्ट निषेध करता है और न द्वितीय पक्षकी भाँति सन्देहके कारण उसका
अपह्नत्ता करता है। केवल उसका लक्षण करना नहीं जानता है। इसलिए यह पक्ष अज्ञानमूलक
और तीनोंमें सबसे कम दूषित पक्ष है।

ध्वनिके विरोधमें सम्भावित इन तीनों पक्षोंमेंसे प्रथम अभाववादी पक्षके मी तीन विकल्प
ग्रन्थकारने किये हैं। इनमें पहिले विकल्पका आशय यह है कि शब्द और अर्थ ही काव्यके शरीर
हैं। उनमें शब्दके स्वरूपगत चारुत्वहेतु अनुप्रासादि शब्दालङ्कार, अर्थके स्वरूपगत चारुत्वहेतु
उपमादि अर्थालङ्कार और उनके सङ्घटनागत चारुत्वहेतु साधुर्थादि गुण प्रसिद्ध ही हैं। इनसे भिन्न
और कोई काव्यका चारुत्वहेतु नहीं हो सकता। उद्भटने नागरिका, उपनागरिका और ग्राम्या इन
तीन वृत्तियोंको और वामनने वैदर्भी आदि चार रीतियोंकी भी काव्यका चारुत्वहेतु माना है। परन्तु
उन दोनोंका अन्तर्भाव अलङ्कार और गुणोंमें ही हो जाता है। उद्भटने वृत्तियोंका निरूपण करते
हुए स्वयं भी उनको अनुप्रासे अभिन्न माना है। उन्होंने लिखा है

"सरूपव्यञ्जनन्यासं तिस्रध्वेतासु वृत्तिषु ।

पृथक् पृथगनुप्रासशुश्रित कवयः सदा ॥"

'परुपानुप्रासा नागरिका, सधुगानुप्रासा उपनागरिका, मध्यमानुप्रासा ग्राम्या' ये जो वृत्तियोंके लक्षण
किये हैं वे भी उनकी अनुप्रासात्मकताके सूचक हैं। रुद्रटने भी अपने 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थमें अनुप्रास-
की पाँच वृत्तियोंका वर्णन किया है। परन्तु वह सब अनुप्रासके ही रूप हैं। 'अनुप्रासस्य पञ्च वृत्तयो
भवन्ति। मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललित्वा, भद्रेति वृत्तयः पञ्च ।' [रुद्रट 'काव्यालङ्कार' अ० २, का० १९]
वे भी वृत्तियोंकी अलङ्काराभिन्नता सिद्ध होती है। इसी प्रकार वामन द्वारा जिन वैदर्भी प्रभृति रीतियों-
के चारुत्वहेतु बताया गया है वे साधुर्थादि गुणोंसे अव्यतिरिक्त हैं। इस प्रकार अलङ्कार और गुणोंके
व्यतिरिक्त और कोई काव्यका चारुत्वहेतु सम्भव नहीं है। यह अभाववादका प्रथम विकल्प है।

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाप्ना-
तपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्या-
प्यभावमन्ये जगदुः ।

तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति ।

तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् । तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवो-
ऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसङ्घटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि
प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनारिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि
गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ?

अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः, प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्य-
त्वहानेः । सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तप्रस्थानतिरेकिणो

'बुध' अर्थात् काव्यमर्मज्ञाने काव्यके आधरभूत जिस तत्त्वको 'ध्वनि' यह नाम
दिया, और [इसके पूर्व किसी विशेष पुस्तक आदिमें निवेश किये बिना भी] परम्परसे
जिसको वार-वार प्रकाशित किया है। भली प्रकार विशद रूपसे अनेक बार प्रकट किया
है; सहृदय [काव्यमर्मज्ञ] जनोंके मनमें प्रकाशमान [सकलसहृदयसंवेद्य] उस
[चमत्कारजनक काव्यात्माभूत ध्वनि] तत्त्वका भी [भामह, भट्टोद्भट आदि] कुछ लोग
अभाव कहते हैं ।

उन अभाववादियोंके ये [निम्नलिखित तीन] विकल्प हो सकते हैं ।

१—कोई [अभाववादी] कह सकते हैं कि काव्य शब्दार्थशरीरवाला है ।
[अर्थात् शब्द और अर्थ काव्यके शरीर हैं] यह तो निर्विवाद है । [तावत् शब्द ध्वनि-
वादी सहित इस विषयमें सबकी सहमति सूचित करता है । काव्यके शरीरभूत उन
शब्द अर्थके चारुत्वहेतु दो प्रकारके हो सकते हैं । एक स्वरूपगत और दूसरे सङ्घट-
नागत] उनमें शब्दगत [शब्दके स्वरूपगत] चारुत्वहेतु अनुप्रासादि [शब्दालङ्कार]
और अर्थगत [अर्थके स्वरूपगत] चारुत्वहेतु उपमादि [अर्थालङ्कार] प्रसिद्ध ही हैं ।
और [इन शब्द अर्थके सङ्घटनागत चारुत्वहेतु] वर्णसङ्घटना धर्म जो माधुर्यादि [गुण]
हैं वे भी प्रतीत होते हैं । उन [अलङ्कार तथा गुणों]से अभिन्न जो उपनागिकादि
वृत्तिर्थाँ किन्हीं [भट्टोद्भट]ने प्रकाशित की हैं वे भी श्रवणगोचर हुई हैं और [माधुर्यादि
गुणोंसे अभिन्न] वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी । [परन्तु] उन सबसे भिन्न यह ध्वनि कौन
सा [नया] पदार्थ है ?

अभाववादका दूसरा विकल्प निम्नलिखित प्रकार है—

२—दूसरे [अभाववादी] कह सकते हैं कि ध्वनि [कुछ] है ही नहीं । प्रसिद्ध
प्रस्थान [प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत् प्रस्थानम् । शब्द और अर्थ
जिनमें परम्परसे काव्यव्यवहार होता है उस प्रसिद्ध] मार्गको अतिक्रमण करनेवाले
[ध्वनि] रूप किसी नवीन] काव्यप्रकार [को माननेसे उस] में काव्यत्वहानि होगी

मार्गस्य तत् सम्भवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य'
तत्प्रसिद्धया ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्ब्यते ।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः । न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् ।
कामनीयकमनतितवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुध्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा
अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे' यत्किंचन कथनं स्यात् ।

किं च, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः
प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारेशे ध्वनिध्वनिरिति 'यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनै-
र्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः । सहस्रशो हि महात्मभिरस्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः
प्रकाश्यन्ते च । न च तेषामेवा दशा श्रूयते । तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः । न त्वस्य
क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम् ।

[उसमें काव्यका लक्षण ही नहीं बनेगा । क्योंकि] सहृदयहृदयाह्लादक शब्दार्थयुक्तत्व
ही काव्यका लक्षण है । और उक्त [शब्दार्थशरीरं काव्यम्' वाले] मार्गका अतिक्रमण
करनेवाले [ध्वनिकाव्यके] मार्गमें यह [काव्यलक्षण] सम्भव नहीं है । और उस
[ध्वनि] सम्प्रदायके [माननेवालोंके] अन्तर्गत [ही] किन्हीं [व्यक्तियोंको स्वेच्छासे]
सहृदय मानकर, उनके कथनानुसार ही [किसी परिकल्पित नवीन] ध्वनिमें काव्य
नामका व्यवहार प्रचलित करनेपर भी यह सब विद्वानोंको क्षीकार्य [मनोग्राही]
नहीं हो सकता ।

अभाववादियोंका तीसरा विकल्प निम्नलिखित प्रकारका हो सकता है—

३—तीसरे [अभाववादी] उस [ध्वनि] का अभाव अन्य प्रकारसे कह सकते
हैं । ध्वनि नामका कोई नया पदार्थ सम्भव ही नहीं है । [क्योंकि यदि वह] कमनीयता-
का अतिक्रमण नहीं करता है तो उसका उक्त [गुण, अलङ्कारादि] चारुत्वहेतुओंमें ही
अन्तर्भाव हो जायगा । अथवा यदि गुण, अलङ्कारादिमेंसे किसीका [ध्वनि] यह नया
नाम [भी] रखा दिया जाय तो वह वही तुच्छ-सी बात होगी ।

और [वस्तुति वाक् शब्दः, उच्यते इति वाग अर्थः, उच्यतेऽनया इति वाग अभिधा-
व्यापारः । अर्थात् शब्द, अर्थ और शब्दशक्तिरूप वाणी द्वारा] कथनशैलियोंके अन्त
प्रकार होनेसे प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित कोई छोटा-मोटा प्रकार
सम्भव भी हो तो भी ध्वनि-ध्वनि कहकर और मिथ्या सहृदयत्वकी भावनासे ओखें
बन्द करके जो यह अकाण्डताण्डव [नर्तन] किया जाता है इसका [तो कोई उचित]
कारण प्रतीत नहीं होता । अन्य विद्वान् महात्माओंने [काव्यके शोभासम्पादक]
सहस्रों प्रकारके अलङ्कार प्रकाशित किये हैं और प्रकाशित कर रहे हैं । उनकी तो यह
[मिथ्या सहृदयत्वविमानमूलक अकाण्डताण्डवकी] अवस्था सुननेमें नहीं आती ।

१. परिकल्पित नि० ।

२. प्रकरणे नि० ।

३. तदलीक नि० श्लो० ।

तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रहादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत् ।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥

[फलतः ध्वनिवादीका यह अकाण्डताण्डवं सर्वथा व्यर्थ है।] इसलिए ध्वनि यह एक प्रवादमात्र है जिसका विचारयोग्य तत्त्व कुछ भी नहीं बताया जा सकता है। इसी आशयका अन्य [ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यके समकालीन मनोरथ कवि]का श्लोक भी है—

जिसमें अलङ्कारयुक्त, अतएव मनको आह्लादित करनेवाला कोई वर्णनीय अर्थ-तत्त्व [वस्तु] नहीं है [इससे अर्थालङ्कारोंका अभाव सूचित होता है], जो चातुर्यसे युक्त सुन्दर शब्दोंसे विग्नित नहीं हुआ है [इससे शब्दालङ्कारशून्यता सूचित होती है] और जो सुन्दर उक्तिओंसे शून्य है [इससे गुणराहित्य सूचित होता है]। इस प्रकार जो शब्दके चारुत्वहेतु अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों, अर्थके चारुत्वहेतु उपमादि अर्थालङ्कारों और शब्दार्थसङ्गतनाके चारुत्वहेतु माधुर्यादि गुणोंसे सर्वथा शून्य है] उसकी यह ध्वनिसे युक्त [उत्तम] काव्य है यह कहकर [गतानुगतिक, गडुलिकाप्रवाहसे] प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करनेवाला मूर्ख, किसी बुद्धिमानके पूछनेपर मालूम नहीं ध्वनिका क्या स्वरूप बतायेगा।

२. भक्तिवादी पक्ष

यह अभाववादी पक्षका उपसंहार हुआ। आगे ध्वनिविरोधी दूसरा भक्तिवादी-पक्ष आता है। प्रथम अभाववादी और तृतीय अलक्षणीयतावादी ये दोनों पक्ष सम्भावित पक्ष हैं अतएव दोनोंका निर्देश 'जगद्' तथा 'ऊचुः' इन परोक्ष 'लिट्' लकारके प्रयोगों द्वारा किया गया है। परन्तु नीचके भक्तिवादी पक्षका, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'भामह'के 'काव्यालङ्कार' और उद्भटके 'भामहविवरण' ग्रन्थों द्वारा परिचय प्राप्त हो चुका है, इसलिए उनका निर्देश परोक्षतासूचक लिट् लकार द्वारा न करके, नित्यप्रवर्तमानसूचक लट् लकारके 'आहुः' पदसे किया गया है।

'भक्तिवाद'में प्रयुक्त 'भक्ति' शब्दकी व्युत्पत्ति चार प्रकारसे की गयी है। भक्ति शब्दसे आलङ्कारिकोंकी 'लक्षणा' और मीमांसकोंकी 'गौणी' नामक दो प्रकारकी शब्दशाक्तियोंका ग्रहण होता है। आलङ्कारिकोंकी लक्षणाके मुख्यार्थवाच, सामीप्यादि सम्बन्ध और शैल्यादिबोधरूप प्रयोजन ये तीन चीज हैं। इन तीन लक्षणा-बीजोंको बोधन करनेके लिए भक्ति शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ की गयी हैं। 'मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः' इस भङ्गार्थक व्याख्यानसे मुख्यार्थवाच, 'भव्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः' इस सेवनार्थक व्याख्यानसे सामीप्यादि सम्बन्धरूप निमित्तकी सिद्धि और 'प्रतिपात्रे शैल्यापचनत्वाद्दौ श्रद्धातिशयो भक्तिः' इस श्रद्धातिशयार्थक व्याख्यानसे भक्तिपद प्रयोजनका सूचक होता है। 'तत आगतः भाक्तः'—मुख्यार्थवाधादि तीनों बीजोंसे जो अर्थ प्रतीत होता है उस लक्ष्यार्थको भाक्त कहते हैं।

भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।
यद्यपि च ध्वनिशब्दसर्तङ्कीनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्

आलङ्कारिकोंने लक्षणाके दो भेद किये हैं, शुद्धा और गौणी। सादृश्येतर सम्बन्धसे शुद्धा और सादृश्य सम्बन्धसे गौणी लक्षणा मानते हैं। परन्तु मीमांसकोंने लक्षणासे भिन्न 'गौणी'को अलग ही वृत्ति माना है, लक्षणाका भेद नहीं। प्रकृत भाक्त पदसे मीमांसकोंकी उस गौणी वृत्तिका भी संग्रह होता है। उसके बोधनके लिए भक्तिपदकी चौथी व्युत्पत्ति 'गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्य अर्थभागस्तैक्ष्ण्यादिः [शौर्यक्रौर्यादिः] भक्तिः, तत आगतो भाक्तः' तैक्ष्ण्य अर्थात् 'सिंहो माणवकः' आदि प्रयोगोंमें भी की गयी है। अर्थात् शौर्यक्रौर्यादिगुणविशिष्टप्राणिविशेषके वाचक गुणसमुदायवृत्ति 'सिंह' शब्दसे उसके अर्थभाव शौर्यक्रौर्यादिका ग्रहण भक्ति है, और उससे प्राप्त होनेवाला गौण अर्थ 'भाक्त' है। इस प्रकार 'भाक्त' शब्दके लक्ष्यार्थ और गौणार्थ ये दोनों अर्थ हैं। आगे इस भक्तिवादी पूर्वपक्षका निरूपण करते हैं।

४—दूसरे लोग उसको लक्ष्य या गौण कहते हैं। अन्य लोग उस ध्वनि नामक काव्यको गुणवृत्ति गौण कहते हैं।

गुणवृत्ति पद काव्यके शब्द और अर्थ दोनोंके लिए प्रयुक्त है। गुण अर्थात् सामीप्यादि और तैक्ष्ण्यादि, उनके द्वारा जिस शब्दका अर्थान्तरमें वृत्तिबोधकत्व होता है वह शब्द और उनके द्वारा शब्दकी वृत्ति जहाँ होती है वह अर्थ, इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही गुणवृत्ति शब्दसे गृहीत हो सकते हैं। अथवा 'गुणद्वारेण वर्तनं गुणवृत्तिः' अर्थात् अमुख्य अभिधाव्यापार भी गुणवृत्ति शब्दसे बोधित होता है। इसका आशय यह है कि दूसरे लोग ध्वनिको गुणवृत्ति कहते हैं। ध्वनि शब्द 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे शब्दका, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे अर्थका और 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे काव्यका बोधक होता है। इसी प्रकार गुणवृत्ति शब्द 'गुणैः सामीप्यादिभिरुत्पत्त्यादिभिर्वोपायैरर्थान्तरे वृत्तिर्यस्य स गुणवृत्तिः शब्दः। तैरुपायैः शब्दस्य वृत्तिर्यत्र सोऽर्थो गुणवृत्तिः। गुणद्वारेण वर्तनं वा गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः', इस प्रकार ध्वनि शब्दके समान गुणवृत्ति शब्द भी शब्द, अर्थ और व्यापार तीनोंका बोधक होता है।

मूल कारिकामें 'तं भाक्तम्' और उसकी वृत्तिमें 'तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानम्' इन पदोंका जो समानाधिकरण—समानविभक्तिक—प्रयोग हुआ है, उसका विशेष प्रयोजन है। पदोंके सामानाधिकरण्यका अर्थ एकधर्मबोधकत्व अर्थात् उनके पदार्थोंका अभेदान्वय ही होता है। जैसे 'नीलमुख्यम्' इस उदाहरणमें समानविभक्त्यन्त 'नीलम्' और 'उत्पलम्' पदोंसे नील और उत्पलका अभेद या तादात्म्य ही बोधित होता है। उसका अर्थ 'नीलाभिन्नमुख्यम्' ही होता है। इसी प्रकार यहाँ भक्ति और ध्वनिका जो सामानाधिकरण्य है उससे उन दोनोंका तादात्म्य ही सूचित होता है। इन दोनोंके तादात्म्यका ही खण्डन आगे सिद्धान्तपक्षमें करना है। वैसे अनेक स्थलोंपर लक्षणा और ध्वनि या गौणी और ध्वनि दोनों साथ पायी जाती हैं। परन्तु अनेक स्थलोंपर लक्षणा या गौणीके अभावमें भी ध्वनि रहती है। इसलिए गौणी या लक्षणा और ध्वनिका तादात्म्य या अभेद नहीं है। आगे चलकर यही सिद्धान्तपक्ष स्थिर करना है इसलिए पूर्वपक्षमें सामानाधिकरण्य द्वारा उन दोनोंका तादात्म्य किया है।

यद्यपि काव्यलक्षणकारोंने ध्वनि शब्दका उल्लेख करके [ध्वनि नाम लेकर] गुणवृत्ति वा स्वरूप [शुण, अलङ्कारादि] कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है, फिर भी

प्रकारः प्रकाशितः, तथापि असुख्यवृत्त्या' कान्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् सृष्टोऽपि', न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये इति ।

केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंबन्धमेव समाख्यातवन्तः । तेनैवंविधासु विमतपिु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः ।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकान्योपनिषद्भूतम्, अतिरमणीयम्, अणीयसी-भिरपि चिरन्तनकान्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम् । अथ च रामायणमहा-भारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्ष्यतां सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाशयते ॥१॥

[भामहके 'शब्दाश्चन्द्रोऽभिधानार्थाः'के व्याख्याप्रसङ्गमें 'शब्दानामभिधानमभिधा-व्यापारो मुखो गुणवृत्तिश्च' लिखकर] काव्योंमें गुणवृत्तसे व्यवहार दिखानेवाले [भट्टोद्भट या उनके उपजीव्य भामह] ने ध्वनिमार्गका थोड़ा-सा स्पर्श करके भी [उसका स्पष्ट] लक्षण नहीं किया [इसलिए अर्थतः उनके मतमें गुणवृत्ति ही ध्वनि है] ऐसी कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' यह कहा गया है ।

५—लक्षणनिर्माणमें अप्रगल्भबुद्धि किन्हीं [तीसरे वादी] ने ध्वनिके तत्त्वको ['न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'के समान] केवल सहृदय हृदयसंबन्ध और वाणीके परे [अलक्षणीय, अनिर्वचनीय] कहा है । इसलिए इस प्रकारके मतभेदोंके होनेसे सहृदयोंके हृदयाह्लादके लिए हम उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं ।

काव्यके प्रयोजनोंमें यश और अर्थकी प्राप्ति, व्यवहारज्ञान और सद्यःपरनिर्वृति परमानन्द आदि अनेक फल माने गये हैं । परन्तु उन सबमें सद्यः परनिर्वृति या आनन्द ही सबसे प्रधान फल है । अन्य यश और अर्थ आदिकी चरम परिणति आनन्दमें ही होती है इसलिए यहाँ काव्यात्मभूत ध्वनि-तत्त्वके निरूपणका एकमात्र आनन्द फल मूल कारिकामें 'सहृदयमनःप्रीतये' शब्दसे और उसकी वृत्तिमें 'आनन्द' शब्दसे दिखाया है ।

उस ध्वनिका स्वरूप समस्त सत्कवियोंके काव्योंका परम रहस्यभूत, अत्यन्त सुन्दर, प्राचीन काव्यलक्षणकारोंकी सूक्ष्मतर बुद्धियोंसे भी प्रसज्जित नहीं हुआ है । इसलिए, और रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थोंमें सर्वत्र उसके प्रसिद्ध व्यवहार-को परिलक्षित करनेवाले सहृदयोंके मनमें आनन्द [प्रद ध्वनि] प्रतिष्ठामको प्राप्त करे, इसलिए उसको प्रकाशित किया जाता है ।

ऊपर जो ध्वनिविरोधी पक्ष दिखाये हैं उनमें अभाववादी पक्षके तीन विकल्प और अन्तके दो पक्ष मिलाकर कुल पाँच पक्ष बन गये हैं । ऊपरकी इन पंक्तियोंमें ध्वनिका जो विशिष्ट रूप प्रदर्शित किया है उसमें प्रयुक्त विशेषण उन पूर्वपक्षोंके निराकरणको ध्वनित करनेवाले और साभप्राय हैं ।

१. गुणवृत्त्या नि० ।

२. मनाक् सृष्टो लक्ष्यते नि० । सृष्ट इति दी० ।

३. अणीयसीभिश्चिरन्तन नि० दी० ।

सकल और सत्कवि शब्दसे 'कस्मिंश्चित् प्रकारलेखो'वाले पक्षका, 'अतिरमणीयम्'से भाक्तपक्षका, 'उपनिषद्भूतम्'से 'अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे'वाले पक्षका, 'अणीयसीभिश्चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्' विशेषणसे गुणलङ्कार अन्तर्भूतत्ववादी पक्षका, 'अथ च' इत्यादिसे 'तत्समयान्त-पातिनः काश्चित्'वाले पक्षका, रामायणके नामोल्लेखसे आदिकविसे लेकर सबसे उसका आदर किया है इससे स्वकल्पितत्व दोषका, 'लक्ष्यताम्' इस पदसे 'वान्चां स्थितमविषये'का निराकरण ध्वनित होता है ।

'आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' इस उक्तिसे साधारण अर्थके अतिरिक्त दो बातें और भी ध्वनित होती हैं । पहली बात तो यह है कि आगे चलकर ध्वनिके वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि ये तीन भेद करेंगे । परन्तु इनमें आनन्दरूप रसध्वनि ही प्रधान है, यह बात इससे सूचित होती है ।

दूसरी बात यह है कि इस 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थके रचयिता श्री आनन्दवर्धनाचार्य हैं । वह न केवल इस ग्रन्थके रचयिता हैं अपितु वस्तुतः ध्वनिमार्गके संस्थापक भी हैं । इसलिए इस ध्वनिके स्पष्ट स्थापनरूप कार्यसे सहृदयोंके मनमें उनको प्रतिष्ठा प्राप्त हो यह भाव भी अपने नामके आदि भाग 'आनन्द' शब्द द्वारा यहाँ व्यक्त किया है ।

'लोचन' और 'बालप्रिया' दोनों टीकाओंके लेखकोंने 'लक्ष्यताम्' पदकी व्याख्यामें 'लक्ष्यते अनेन इति लक्षो लक्षणम् । लक्षणे निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयताम्' यह अर्थ किया है । और 'लक्ष्यतेऽनेन इति लक्षः' इस प्रकार करणमें घञ् प्रत्यय करके लक्ष शब्द बनाया है । साधारणतः ल्युट् प्रत्ययसे वाधित होनेके कारण करणमें घञ् प्रत्यय सुलभ नहीं है । परन्तु महाभाष्य-कारने 'उपदेशोऽजनुनासिक इत्' इस सूत्रमें बाहुलकात् करण घञन्त उपदेश शब्दका साधन किया है अतः बाहुलकात् करण घञन्तवाला मार्ग यहाँ भी निकाला जा सकता है । परन्तु यहाँ तो 'लक्ष्यताम्'का सीधा 'निरूपयताम्' अर्थ करनेसे उस बाहुलककी विलट कल्पनासे बचा जा सकता है । निरूपणमें, लक्षणादिना निरूपण धात्वर्थान्तर्गत हो जानेसे अर्थमें भी अन्तर नहीं होता तब उस अगतिकरुति बाहुलकका आश्रय लेकर करण-घञन्त लक्ष पदके व्युत्पादनका प्रयास क्यों किया, यह विचारणीय है ।

'ध्वनेः स्वरूपम्'में प्रयुक्त 'स्वरूपम्' पद, 'लक्ष्यताम्'में लक्ष धात्वर्थ और 'प्रकाशयते'में काश धात्वर्थ दोनोंमें आवृत्ति द्वारा कर्मतया अन्वित होता है । और प्रधानभूत काश धात्वर्थके अनुरोधसे उसे प्रथमान्त समझना चाहिये, गुणीभूत लक्षक्रियानुरोधसे द्वितीयान्त नहीं । इसमें 'स्वाहुभि गणुल्' [पा० सू० ३-४-२६] इस सूत्रके भाष्यमें स्थित निम्नलिखित कारिका प्रमाण है—

"प्रधानतरयार्थत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक् ।

शक्तिर्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते ॥"

प्रत्येक ग्रन्थके प्रारम्भमें ग्रन्थका [१] प्रयोजन, [२] विषय, [३] अधिकारी, [४] सम्बन्ध इन अनुबन्धचतुष्टयको प्रदर्शित करनेकी व्यवस्था है ।

"सिद्धार्थे सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते ।

शास्त्रादी तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥" श्लो० वा० १।१७।

अनुबन्धचतुष्टयके ज्ञानसे ही ग्रन्थके अध्ययन अध्यापनादिमें प्रवृत्ति होती है । 'प्रवृत्तिप्रयोजक-ज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' यही अनुबन्धका लक्षण है । प्रवृत्तिप्रयोजक ज्ञानका स्वरूप 'हृदं मदिष्ट-साधनम्' या 'हृदं मत्कृतिसाप्यम्' है । इसमें हृदं पदसे विषय, मत् पदसे अधिकारी, इष्ट पदसे प्रयोजन और साधन पदसे साध्यसाधनभावसम्बन्ध सूचित होता है । तदनुसार विषय, प्रयोजन,

‘तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

‘योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥२॥

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मज्ञ साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः, तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ॥२॥

अधिकारी और सम्बन्ध ये चार अनुबन्ध माने गये हैं और प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें उनका निरूपण आवश्यक माना गया है ।

अतएव इस ‘ध्वन्यालोक’के प्रारम्भमें भी ग्रन्थकारने उन चार अनुबन्धोंको सूचित किया है । ‘तत्स्वरूपं भ्रमः’से ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय ध्वनिका स्वरूप है, यह सूचित किया । विमति-निवृत्ति और उससे ‘सहृदयमनःप्रीतये’से मनःप्रीतिरूप मुख्य प्रयोजन सूचित हुआ । ध्वनिस्वरूपजिज्ञासु सहृदय उसका अधिकारी और शास्त्रका विषयके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव तथा प्रयोजनके साथ साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टयकी भी सूचना हुई ॥१॥

यहाँ ‘तत्र’ पद भावलक्षण सप्तमीके या सति सप्तमीके द्विवचनान्तसे त्रल प्रत्यय करके बना है, इसलिए उसका अर्थ उन दोनों अर्थात् विषय और प्रयोजनके स्थित होनेपर होता है ।

विषय और प्रयोजनके स्थित हो जानेपर, जिस ध्वनिका लक्षण करने जा रहे हैं उसकी आधारभूमि [भूमिरिव भूमिका] निर्माणके लिए यह कहते हैं—

सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्यके आत्मरूपमें प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गये हैं ॥२॥

शरीरमें आत्माके समान, सुन्दर [गुणालङ्कारयुक्त], उचित [रसादिके अनुरूप रचनाके कारण रमणीय काव्यके साररूपमें स्थित, सहृदयप्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं ।

‘योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः’ इत्यादि दूसरी कारिका वैसे सरल जान पड़ती है परन्तु उसकी सङ्गति तनिके क्लिष्ट है । उसके आपाततः प्रतीत होनेवाले अर्थने साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथको भी भ्रममें डाल दिया, जिसके कारण उन्होंने ग्रन्थमें इस कारिकाका खण्डन-करनेकी आवश्यकता समझी । उन्होंने लिखा कि सहृदयश्लाघ्य अर्थ अर्थात् ध्वनि तो सदा प्रतीयमान ही है, वाच्य कभी नहीं होता । फिर, ध्वनिकारने जो उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद किये हैं वह उनका वदतो व्याघात—स्ववचन-विरोध है ।

इस सम्भावित भ्रान्तिको समझकर टीकाकारने इस कारिकाकी व्याख्या विशेष प्रकारसे की है । ध्वनिके स्वरूप-निरूपणकी प्रतिज्ञा करके वाच्यका कथन करने लगना भ्रमजनक हो सकता है, इसीलिए स्वयं ग्रन्थकारने भी इस कारिकाकी अवतरणिकामें सङ्केत कर दिया है कि यह ध्वनिकी भूमिका [भूमिरिव भूमिका] है । आधारभूमिका निर्माण हो जानेपर ही उसके ऊपर भवन-निर्माणका कार्य प्रारम्भ होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ ध्वनिकी आधारभूमि है, उसीके आधारपर प्रतीयमान अर्थकी व्यक्ति होती है ।

१. तत्र पुनर्ध्वनेः नि० ।

२. अर्थः ‘... काव्यात्मा यो नि० ।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः ।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,

‘काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।

ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

केवलमनूयते पुनर्यथोपयोगम् ॥३॥

‘वाच्य’से यहाँ अलङ्कारोंका ग्रहण किया है वाच्यार्थका नहीं, अतः विश्वनाथकृत सत्य उचित नहीं है । पूर्वपक्ष प्रदर्शित करते हुए लिखा था, ‘शब्दार्थशरीरं काव्यम्’ । इनमेंसे शब्द तो शरीरके स्थूलत्वादिके समान सर्वजनसंबन्ध होनेसे शरीरभूत ही है । परन्तु अर्थ तो स्थूल शरीरकी भाँति सर्वजनसंबन्ध नहीं है । व्यङ्ग्यार्थ तो सहृदयैकवेद्य है ही पर उससे भिन्न वाच्यार्थ भी सङ्केतमयपूर्वक सर्वजनसंबन्ध नहीं है । व्युत्पन्न पुरुषोंको ही प्रतीत होता है, अतएव अर्थ सर्वजनसंबन्ध न होनेसे स्थूलशरीरस्थानीय नहीं है । जब शब्दको शरीर मान लिया तो फिर उसको अनुप्राणित करनेवाले आत्माका मानना भी आवश्यक है । और यह अर्थ उस आत्माका स्थान लेता है । परन्तु सारा अर्थ नहीं केवल सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मा है । इसलिए अर्थके दो भेद किये हैं, एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान । सहृदयश्लाघ्य काव्यात्मा है । दूसरा जो वाच्य अर्थ [वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः] या प्रतीयमान अर्थ काव्यका आत्मा है । दूसरा जो वाच्य अर्थ [वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरूपमादिभिः] या प्रतीयमान अर्थ काव्यका आत्मा नहीं उसे हम इस रूपकमें सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण अथवा मनःस्थानीय मान सकते हैं । जिस प्रकार आत्मतत्त्वके विषयमें विप्रतिपन्न चार्वाकादि कोई स्थूल शरीरको और कोई सूक्ष्म मन आदिको ही आत्मा समझ लेते हैं इसी प्रकार यहाँ शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार, रीति आदिसेमं किसे एक या उनकी समष्टिको काव्य समझ लेना चार्वाकमतके सदृश है ।

कारिकाकारने ‘वाच्यप्रतीयमानाख्यौ’ पदमें वाच्य और प्रतीयमान दोनोंका ‘द्वन्द्व’ समझ किया है । ‘उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः’ अर्थात् द्वन्द्व समासमें द्वन्द्ववचक समस्तपदोंका समाधान होता है । इसलिए यहाँ वाच्य और प्रतीयमान दोनोंका समाधान सूचित होता है, जिसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार वाच्य अर्थका अपह्वव नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी अनपह्ववनीय है । उसका अपह्वव—निषेध नहीं किया जा सकता है । इस प्रतीयमान अर्थके विपरीत की जानेवाली विप्रतिपत्ति आत्मतत्त्वके विषयमें की जानेवाली चार्वाककी विप्रतिपत्तिके समकक्ष है । अतएव सर्वथा हेय है ॥३॥

उनमेंसे, वाच्य अर्थ वह है जो उपमादि [गुणालङ्कार] प्रकारोंसे प्रसिद्ध है और अन्योंने [पूर्व काव्यलक्षणकारोंने] अनेक प्रकारसे उनका प्रदर्शन किया है । इसलिए हम यहाँ उनका विस्तारसे प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं ॥३॥

केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवादमात्र करेंगे ।

‘वाच्यप्रतीयमानाख्यौ’में ‘वाच्य’ पदसे घट-पटादिरूप अभिधेयार्थका ग्रहण अभीष्ट नहीं है अपितु उपमादि अलङ्कारोंका ग्रहण अपेक्षित है इसलिए दूसरी कारिकामें ‘वाच्यपदकी व्याख्या करते हैं—उसका यहाँ अनुवाद करेंगे । अज्ञात अर्थका ज्ञापन यहाँ ‘प्रतनन’ है और ज्ञापन ‘अनुवाद’ कहलाता है । भट्टवार्तिकमें कहा है—

१. नि० वी० ने ‘काव्यलक्ष्मविधायिभिः’ को कारिकाभाग और ‘ततो नेह प्रतन्यते’ को ध्वनिकारण मानकर छापा है । परन्तु ‘लोचन’के अनुसार हमारा पाठ ही ठीक है ।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।

यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥१॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्यात् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत् तत् सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा अङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, अलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम् । तथा हि, आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान् । स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः । यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुनओ अञ्ज मारिओ देण ।

गोलाणइकच्छकुञ्जवासिणा दरिअसोहेण ॥

[त्रयं धार्मिकं विस्वभ्यः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन । तस्य प्रतीयमानार्थः
"गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना हतसिहेन ॥ इति च्छाया] ०१ उदा

"वच्छब्दयोगः प्राथमं सिद्धत्वं चाप्यनूयता ।

तच्छब्दयोग औत्तर्था साध्यत्वं च विधेयता ॥"

श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'अनुधाया' या उद्देश्यवा लक्षण किया है और उत्तरार्द्धमें 'विधेय' का ॥३॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियोंके प्रसिद्ध [मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि] अवयवोंसे भिन्न [उनके] लावण्यके समान, महाकवियोंकी सूक्तियोंमें [वाच्य अर्थसे] अलग ही भागित होता है ॥४॥

महाकवियोंकी वाणियोंमें वाच्यार्थसे भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है । जो प्रसिद्ध अलङ्कारों अथवा प्रतीत होनेवाले अवयवोंसे भिन्न, सहृदयसुप्रसिद्ध अङ्गनाओंके लावण्यके समान [अलग ही] प्रकाशित होता है । जिस प्रकार सुन्दरियोंका सांन्दर्य पृथक् दिखायी देनेवाला समस्त अवयवोंसे भिन्न सहृदयनेत्रोंके लिए अमृततुल्य कुछ और ही तत्त्व है, इसी प्रकार वह [प्रतीयमान] अर्थ है ।

वस्तुध्वनिका वाच्यार्थरी स्वरूपकृत भेद वह [प्रतीयमान] अर्थ वाच्य सामर्थ्यसे आक्षिप्त वस्तुमात्र, अलङ्कार और रसादि-भेदसे अनेक प्रकारका दिखाया जायगा । उन सभी भेदोंमें वह वाच्यसे अलग ही है । जैसे गहला [वस्तुध्वनि] भेद वाच्यसे अत्यन्त भिन्न है । [क्योंकि] कहीं वाच्यके विधिरूप होनेपर [ही] वह [प्रतीयमान] निषेधरूप होता है । जैसे—

१. सहृदयसुप्रसिद्धम् नि०, दी० ।

२. अलङ्कार रसादयश्च नि० ।

३. विश्वभ्यः नि० ।

४. गोदावरीनदीकुललतागहनवासिना लो० ।

पण्डितजी महाराज ! गोदावरीके किनारे कुञ्जमें रहनेवाले मदमत्त सिंहने आज उस कुत्तेको मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर धूमिये ।

गोदावरीतटका कोई सुन्दर स्थान किसी कुलटाका सङ्केतस्थान है । उस स्थानकी सुन्दरताके कारण कोई धार्मिक पण्डितजी—भगतजी—सन्धोपासन या भ्रमणके लिए उधर आ जाते हैं । इसके कारण उस कुलटाके कार्यमें विघ्न पड़ता है और वह चाहती है कि वह इधर न आया करें । वैसे विना बात उनको आनेका सीधा निषेध करना तो अनुचित और उसकी अनधिकार चेष्टा होती, इसलिए उसने सीधा निषेध न करके उस प्रदेशमें मत्त सिंहकी उपस्थितिकी सूचना द्वारा पण्डितजीको भयभीत कर उसके रोकनेका यह मार्ग निकाला है । प्रकृत श्लोकमें वह पण्डितजी महाराजकी यही सूचना दे रही है । परन्तु उसके कहनेका एक विशेष ढंग है । वह कहती है, 'पण्डितजी महाराज ! वह कुत्ता जो आपको रोज तंग किया करता था उसे गोदावरीके किनारे कुञ्जमें रहनेवाले मदमत्त सिंहने मार डाला है', अर्थात् प्रतिदिन आपके भ्रमणमें बाधा डालनेवाले कुत्तेके मर जानेसे आपके मार्गकी वह बाधा दूर हो गयी है और अब आप निर्भय होकर भ्रमण करें । कुलटा जानती है कि पण्डितजी तो कुत्तेसे ही डरते हैं, जब उन्हें मालूम होगा कि उसे सिंहने मार डाला और वह सिंह यहीं कुञ्जमें रहता है तो निश्चय ही पण्डितजी भूलकर भी उधर आनेका साहस नहीं करेंगे । इसीलिए वह पण्डितजीको निश्चिन्त होकर भ्रमण करनेका निमन्त्रण दे रही है । परन्तु उसका तात्पर्य यही है कि कभी भूलकर भी इधर-पैर न रखना, नहीं तो फिर आपकी कुशल नहीं है । श्लोकमें 'धार्मिक' पद पण्डितजी महाराजकी भीरुताका, 'दत्त' पद सिंहकी भीषणताके अतिरेकका और 'वासिना' पद सिंहकी निरन्तर विद्यमानताका सूचक है । इस श्लोकका वाच्यार्थ तो विधिरूप है परन्तु जो उससे प्रतीयमान अर्थ [वस्तुध्वनि] है वह निषेधरूप है । इसलिए वाच्यार्थसे प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त भिन्न है ।

लिट् लोट्, तद्यत् प्रत्यय 'विधि प्रत्यय' कहलाते हैं । विधिप्रत्ययान्त पदोंको सुननेसे यह प्रतीत होता है कि 'अर्थ मां प्रवर्तयति' । विधिप्रत्ययके प्रयोगको सुनकर सुननेवाला नियमसे यह समझता है कि यह कहनेवाला मुझे किसी विशेष कार्यमें प्रवृत्त कर रहा है । इसलिए विधि प्रत्ययका सामान्य अर्थ प्रवर्तना ही होता है । यह प्रवर्तना वक्ताका अभिप्रायरूप है । मीमांसकोंने विध्यर्थका विशेष रूपसे विचार किया है । उनके मतमें वेद अर्णरूपेय है । वेदमें प्रयुक्त 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि विधिप्रत्यय द्वारा जो प्रवर्तना बोधित होती है वह शब्दनिष्ठ व्यापार होनेसे शाब्दी भावना कहलाती है । लौकिक वाक्योंमें तो प्रवर्तकत्व पुरुषनिष्ठ अभिप्रायविशेषमें रहता है परन्तु वैदिक वाक्योंका वक्ता पुरुष न होनेसे वहाँ वह प्रवर्तकत्वव्यापार केवल शब्दनिष्ठ होनेसे 'शाब्दी भावना' कहलाता है । और उस वाक्यको सुनकर फलोद्देश्येन पुरुषकी जो प्रवृत्ति होती है उसे 'आर्था भावना' कहते हैं । 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना', 'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयो व्यापार आर्था भावना' । साधारणतः विधि शब्दका अर्थ प्रवर्तकत्व या भावना आदि रूप होता है परन्तु यहाँ 'क्वचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपो यथा'में यह अर्थ सङ्गत नहीं होगा । इसलिए यहाँ विधिका अर्थ प्रतिप्रसव या प्रतिषेधनिवर्तन माना गया है । कुत्तेकी उपस्थिति धार्मिकके भ्रमणमें प्रतिषेध-घातक या बाधारूप थी । कुत्तेके मर जानेसे उस बाधाकी निवृत्ति हो गयी । यही प्रतिषेधनिवृत्ति या प्रतिप्रसव यहाँ 'विधि' शब्दका अर्थ है, न कि नियागादि । भ्रम. पदका जो लोट् लकार है वह 'प्रेमसंगमप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' [पा० सू० ३,३,१०२] सूत्रसे अतिसंग अर्थात् कामचार, स्वेच्छाविहार और प्राप्तकाल अर्थमें हुआ है । प्रेप [प्रमाणान्तरप्रमितेऽयं पुरुषनिष्ठा प्रवर्तना प्रेपः] अर्थमें नहीं है ।

निर्णयसामरीय संस्करणमें 'विश्वभ्यः' पाठ है उसकी अपेक्षा अर्थदृष्टिसे 'विस्वभ्यः' पाठ अधिक

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।

मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिंसि ॥

[इवश्रूत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय । — अलंकार ७३ प्रथम]

मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायां मम निमंक्ष्यसि ॥ इति च्छाया]

क्वचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वष मह त्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअन्वाइं ।

मा तुज्ज वि तीअ विणा दक्खिण्हअस्स जाअन्तु ॥

[त्रज ममैवैकस्या भवतु निःश्वसरोदितव्यानि ।

मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥ इति च्छाया]

उपयुक्त है। 'सम्पु विश्वासे', 'श्रम्पु प्रमादे' दन्त्यादि 'सम्पु' धातु विश्वासायुक्त और तालव्यादि 'श्रम्पु' धातु प्रमादायुक्त है। यहाँ विश्वासायुक्त दन्त्यादि 'सम्पु' धातुका ही प्रयोग अधिक उपयुक्त है। इसलिए 'विश्वन्धः' पाठ अधिक अच्छा है।

कहाँ वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होनेपर [प्रतीयमानार्थ] विधिरूप होता है। जैसे—
हे पथिक ! दिनमें अच्छी तरह देख लो, यहाँ सासजी सोती है और यहाँ मैं सोती हूँ। [रातका] रतौंधीग्रस्त [होकर] कहीं हमारी खाटपर न गिर पड़ना।

यहाँ वाच्यार्थ निषेधरूप है परन्तु व्यङ्ग्यार्थ [प्रतीयमानार्थ] विधिरूप है। यहाँ भी विधिकार्थ प्रवर्तना नहीं अपितु प्रतिप्रसव अर्थात् निषेध-निवर्तनरूप लेना चाहिये। किसी प्रीणितभर्तृकाको देखकर मदनाङ्कुरसम्पन्न पथिक पुरुषको इस निषेध द्वारा उसकी ओरसे निषेध-निवर्तनरूप स्वीकृति या अनुमति प्रदान की जा रही है। अप्रवृत्त-प्रवर्तनरूप निमग्न नहीं। विधिको निमग्नरूप माननेपर तो प्रथम स्वानुशासकप्रकाशनसे सामान्याभिमान खण्डित होगा। इसीलिए यहाँ विधि शब्द निषेधाभावरूप अम्युपगममात्रका सूचक है।

कहाँ वाच्य विधिरूप होनेपर [प्रतीयमान अर्थ] अनुभवात्मक [विधि, निषेध दोनोंसे भिन्न] हाता हें। जैसे—

[तुम] जाओ, मैं अकली ही इन निःश्वास और रोनेको भोगूँ [सो अच्छा है], कहीं दाक्षिण्य [मेरे प्रति भी अनुराग अनेकसुहिलासमरागो दक्षिणः कथितः] के चक्करमें पड़कर, उसके बिना तुमको भी यह सब न भांगना पड़े।

१. आवयोर्मांक्षीः नि०, दी० । 'गाथासप्तशती'में मूल पाठ भिन्न है। उसका पाठ और छाया निम्नलिखित है—

एत्थ निमज्जइ अत्ता एत्थ अहं परिअणो सअलो ।
पन्थिअ रत्तीअन्धअ मां मह सअणं निमज्जहिंसि ॥

छाया—अत्र निमज्जति इवश्रूत्राहमत्र परिजनः सकलः ।

पथिक रात्र्यन्धकं मा मम शयने निमंक्ष्यसि ॥

गाथासप्तशती ७, ६७

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोहाविलुत्ततमणिवहे ।

अहिसारिआणं विग्घं करोसि अण्णाणं वि हआसे ॥

[प्राथये तावत् प्रेतीद निवतस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुत्तमोनिवहे । — अलंकार ७३ प्रथम]

अभिसारिकाणां विघ्नं करोप्यन्यासामपि हताशे ॥ इति च्छाया]

इस श्लोकमें खण्डिता [पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिहितः । सा खण्डितेति कथिता धीरैरीष्यांकपायिता ॥ सा० द० ३, ११७ ॥] नायिकाका प्रगाढ़ मन्यु [दुःख] प्रतीयमान है। वह न तो प्रज्याभावरूप निषेध ही है और न अन्य निषेधाभावरूप विधि ही है। इसलिए यहाँ प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप है।

कहाँ वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होनेपर [भी प्रतीयमान अर्थ] अनुभयरूप होता है। जैसे—

[मैं] प्रार्थना करता हूँ मान जाओ, लौट आओ। अपने मुखचन्द्रकी ज्योत्स्नासे गाढ़ अन्धकारका नाश करके अरी हताशे ! तुम अन्य अभिसारिकाओं [के कार्य]का भी विघ्न कर रही हो।

इस श्लोककी व्याख्या कई प्रकारसे की गयी है। पहली व्याख्याके अनुसार नायकके घरपर आधी परन्तु नायकके गोत्रखलनादि अपराधसे नाराज होकर लौट जानेके लिए उद्यत नायिकाके प्रति नायककी उक्ति है। नायक चाटुकमपूर्वक उसको लौटानेका यत्न करता है। न केवल अपने और हमारे सुखमें विघ्न डाल रही हो बल्कि अन्य अभिसारिकाओंके कार्यमें भी विघ्न बन रही हो तो फिर तुम्हें कभी सुख कैसे मिलेगा ? इस प्रकारका चलाभाप्रथरूप चाटुविशेष व्यङ्ग्य है।

दूसरी व्याख्याके अनुसार सखीके समक्षानेपर भी उसकी बात न मान कर अभिसारोद्यत नायिकाके प्रति सखीकी उक्ति है। लावण प्रदर्शन द्वारा अपनेको अनादरास्पद करके हे हताशे ! तुम न केवल अपनी मनोरथसिद्धिमें विघ्न कर रही हो अपितु अपने मुखचन्द्रकी ज्योत्स्नासे अन्धकारका नाश करके अन्य अभिसारिकाओंके कार्यमें भी विघ्न डाल रही हो। इस प्रकार सखीका चाटुरूप अभिप्राय व्यङ्ग्य है।

इन व्याख्याओंमेंसे एकमें नायकगत चाटु अभिप्राय और दूसरीमें सखीगत चाटु अभिप्राय व्यङ्ग्य है। सखिपक्षमें नायिकाविषयक रतिरूप भाव [रतिर्देवादिविषया भावो व्यभिचारी तथाज्ञितः । श्रगात् नायक नःपिकासे भिन्नविषयक रति और व्यञ्जनागम्य व्यभिचारीको 'भाव' कहते हैं] व्यङ्ग्य है और वह अनुभावरूप 'अन्यासामपि विघ्नं करोपि हताशे' आदि वाच्यार्थ द्वारा, 'निवर्तस्व' इस वाच्यार्थके प्रति अङ्गुष्ठ हो जानेसे वस्तुतः गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण बन जाता है, ध्वनिका नहीं। इसी प्रकार जहाँ 'भाव' दूसरेका अङ्ग हो उसे 'प्रेय' कहते हैं वह भी गुणीभूतव्यङ्ग्य ही है। नायकीके पक्षमें उधी प्रकारसे नायकगत रति उक्त अनुभावरूप अर्थ द्वारा 'निवर्तस्व' इस वाच्यका अङ्ग हो जानेसे [रसवत्, जहाँ रस अन्यका अङ्ग हो जाय वहाँ 'रसवत्' अलङ्कार होता है] यह भी गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप ही है। अतएव इन दोनों व्याख्याओंमें यह ध्वनिकाव्यका उदाहरण न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण बन जाता है इसीलिए यह व्याख्या उचित नहीं है।

अतएव इसकी तीसरी व्याख्या यह की गयी है कि शीघ्रतासे नायकके घरको अभिसार करती

कचिद् वाच्याद् विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्त वा ण होइ रोसो दट्टूण पियाएँ सञ्चणं अहरम् ।

सभमरपडमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एहिम् ॥

[कस्य वा न भवति रोपो दट्ट्वा प्रियायाः सत्रणमधरम् ।

सभमरपडमात्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ इति च्छाया]

अन्ये चैवंप्रकाराः वाच्याद् विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां दिङ्मात्र-
मेतत् प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् विभिन्नः सप्रपञ्चमत्रे दर्शयिष्यते ।

हुई नायिकाके प्रति, रास्तेमें मिले हुए और नायिकाके घरकी ओर आते हुए नायककी यह उक्ति है। यहाँ 'निवर्तस्व' लौट चलो, यह वाच्यार्थ है। परन्तु वह लौट चलना नायक, नायिका या किसीके घरकी ओर भी हो सकता है अतः तुम मेरे घर चलो या हम दोनों तुम्हारे घर चलें यह तात्पर्य व्यङ्ग्य है। यह तात्पर्य न विभिरूप है और न निषेधरूप। अतएव वाच्य प्रतिषेधरूप होनेपर भी व्यङ्ग्य अनुभयरूप होनेसे प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थसे अत्यन्त भिन्न है।

वस्तुध्वनिका वाच्यार्थसे विषयकृत भेदसे भेद

ऊपरके चारों उदाहरणोंमें धार्मिक, पान्थ, प्रियतम और अभिसारिका ही क्रमशः वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंके विषय हैं। इस प्रकार विषयका ऐक्य होनेपर भी वाच्य और व्यङ्ग्यका, स्वरूपभेदसे भेद दिखाया है। अगले उदाहरणमें यह दिखाते हैं कि वाच्य और व्यङ्ग्यका विषयभेद भी हो सकता है और उस विषयभेदसे भी वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंको अलग मानना हागा।

अथवा प्रियाके [इतरनिदिच्छक] सत्रण अधरको देखकर किसको क्रोध नहीं आता। सना करनेपर भी न मानकर भ्रमरस्तहित कमलको सूँघनेवाली तू अब उसका फल भोग।

किसी अधिनीताके अधरमें दशनजन्म व्रण कहीं चौर्यरतिके समय हो गया है। उसका पति जब उसको देखेगा तो उसकी दुश्चरित्रताको समझ जायगा और अप्रसन्न होगा। इसलिए उसकी सखी, उसके आस-पास कहीं विद्यमान पतिको लक्ष्यमें रखकर उसको सुनानेके लिए, इस प्रकारसे मानों उसने पतिको देखा है नहीं है, उस अधिनीतासे उपर्युक्त वचन कह रही है। यहाँ वाच्यार्थका विषय तो अधिनीता है परन्तु उसका व्यङ्ग्य अर्थ है कि इसका व्रण परपुरुषजन्म नहीं अपितु भ्रमर-दशनजन्म है अतः इसका आराध नहीं है। इस व्यङ्ग्यका विषय नायक है। इसलिए यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्यका विषयभेद होनेसे व्यङ्ग्य अर्थ वाच्यार्थसे अत्यन्त भिन्न है।

इसमें और भी अनेक विषय बन सकते हैं। वाच्यार्थका विषय तो प्रत्येक दशामें अधिनीता नायिका ही रहेगी परन्तु व्यङ्ग्यके विषय अन्य भी हो सकते हैं, जैसे आज तो इस प्रकारसे वच गयी, आगे कभी इस प्रकारके प्रकट चिह्नोंका अवसर न आने देना। इस व्यङ्ग्यमें प्रतिनायक।

अलङ्कारध्वनिका वाच्यार्थसे भेद

इस प्रकार वाच्यार्थसे भिन्न प्रतीयमान [वस्तुध्वनि] के और भी भेद हो सकते हैं। यह तो उनका केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है। दूसरा [अलङ्कारध्वनिरूप] प्रकार

To be
continued.....